दैनिक भास्कर

Date: 03-09-18

दुनिया की 22% आबादी को रिप्रेजेंट करता है बिम्सटेक

काठमांडू में संपन्न हुआ बिमस्टेक का दो दिनी चौथा शिखर सम्मेलन

नेपाल की राजधानी काठमांडू में प्रधानमंत्री केपी शर्मा ओली की अध्यक्षता में 'बे ऑफ बंगाल इनिशिएटिव फॉर मल्टी-सेक्टरल टेक्निकल एंड इकनॉमिक को-ऑपरेशन (BIMSTEC)' यानी बिम्सटेक का दो दिवसीय सम्मेलन संपन्न हुआ। यह बिम्सटेक का चौथा सम्मेलन है और यह "शांत, संपन्न और स्थिर बंगाल की खाड़ी क्षेत्र' थीम पर आधारित है। इसमें करीब-करीब वही देश शामिल हैं, जो दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) में हैं।

क्या है यह संगठन ?

21 साल पहले बैंकॉक में बांग्लादेश, भारत, श्रीलंका और थाइलैंड इनकॉमिक कॉर्पोरेशन नाम से एक क्षेत्रीय समूह की स्थापना हुई थी। तब इन देशों के पहले नाम के अक्षरों के आधार पर इसका नाम BIST-EC रखा गया था। मगर 22 दिसंबर 1997 को म्यांमार भी इसका पूर्णकालिक सदस्य बन गया। ऐसे में BIMST-EC इसका नाम कर दिया। बाद में साल 2004 में नेपाल और भूटान भी इसके सदस्य बन गए। ऐसे में 31 जुलाई 2004 को इसके नाम का अर्थ बदलते हुए 'बे ऑफ बंगाल इनिशिएटिव फॉर मल्टी-सेक्टरल टेक्निकल एंड इकनॉमिक को-ऑपरेशन' कर दिया गया।

कैसे बनते हैं अध्यक्ष

देशों के नाम के प्रथम अक्षर के अनुसार क्रम से इस समूह की अध्यक्षता का निर्णय होता है। फिलहाल नेपाल इसका अध्यक्ष है। इससे पहले बांग्लादेश (1997-99), भारत (2000), म्यांमार (2001-02), श्रीलंका (2002-03), थाइलैंड (2003-05) और बांग्लादेश (2005-06) बिम्सटेक की अध्यक्षता कर चुके हैं। भूटान के मना करने पर भारत ने 2006-09 तक अध्यक्षता की थी।

सार्क का विकल्प क्यों बनाया ?

पाकिस्तान का सार्क में अड़ियल रूख

बिम्सटेक की स्थापना आज से 1997 में हुई थी। इसकी शुरुआत गुजराल डॉक्ट्रिन के वक्त से ही मानी जा सकती है, जिसमें पाकिस्तान को शामिल न करने की बात कही गई थी। तत्कालीन प्रधानमंत्री इंद्र कुमार गुजराल ने साफ संकेत दिया था कि अगर पाकिस्तान अपना असहयोगात्मक रवैया नहीं छोड़ेगा, तो भारत क्षेत्रीय सहयोग में उसे शामिल नहीं

करेगा। इसका वर्तमान स्वरूप 2004 में स्थिर हुआ जब सम्मेलन की प्रक्रिया और अन्य चीजें तय हुईं। इसमें एक मुद्दा यह था कि सार्क-जो एक क्षेत्रीय संगठन के रूप में दक्षिण एशिया में है। दरअसल, दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) की सीमित सफलता और पाकिस्तान के लगातार असहयोगात्मक रवैये के चलते एक क्षेत्रीय संगठन की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। पाकिस्तान द्वारा आतंकवाद को बढ़ावा देना जारी रखने के चलते भारत ने पाकिस्तान में होने वाले सार्क शिखर सम्मेलन में हिस्सा लेने से इनकार कर दिया था, तभी से सार्क के अस्तित्व और अस्मिता पर सवाल उठना शुरू हो गया था। अब माना जा रहा है कि भारत की ओर से बिम्सटेक को बढ़ावा दिया जाएगा, जिससे बिम्सटेक में शामिल सार्क देशों के बीच भी क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा मिलेगा, क्योंकि बिम्सटेक में पाकिस्तान नहीं है।

बंगाल की खाड़ी के देशों की एकता

दूसरी बात यह है कि भारत की लुक ईस्ट नीति है। नब्बे के दशक में शुरू हुई इस नीति के तहत पूर्व की तरफ देखने की पहल के तहत हमने बंगाल की खाड़ी से सटे देशों के साथ बिम्सटेक शुरू किया। आज इसमें 7 देश हैं जिनकी पहुंच बंगाल की खाड़ी से है-श्रीलंका, थाइलैंड, भारत, म्यांमार, बांग्लादेश। इनके अलावा नेपाल और भूटान जमीन से घिरे हुए हैं मगर उनका पोर्ट एक्सेस बंगाल की खाड़ी के पास है।

क्या हैं इसके लक्ष्य ?

बिम्सटेक ने लगभग 14 एजेंडे तय किए, जो आपस में आर्थिक और तकनीकी सहयोग बढ़ाने पर आधारित हैं। इस बार भी इन मुद्दों को प्राथमिकता दी जानी है, मगर सभी मुद्दों पर बात हो पाना संभव नहीं हैं। बिम्सटेक के सदस्य देशों में फ्री ट्रेड एग्रीमेंट का प्रस्ताव है, ताकि आपस में व्यापार को बढ़ावा दिया जा सके। अभी इन देशों में आपस में इतना ट्रेड नहीं है। कुछ में है, जैसे भारत और श्रीलंका में, भारत और नेपाल में या म्यांमार और थाइलैंड के बीच। मगर भारत का थाइलैंड के साथ या नेपाल का बांग्लादेश के साथ उतना ट्रेड नहीं है।

बिम्सटेक से जुड़ी खास बातें

लुक ईस्ट पॉलिसी के बाद अब एक्ट ईस्ट पॉलिसी

बिम्सटेक के सफर से जुड़े दो महत्वपूर्ण तथ्य हैं। एक, दक्षिण एशियाई देशों के बीच उप-क्षेत्रीय सहयोग का विकास हुआ और दूसरा, इसमें आसियान संगठन के दो (दक्षिण-पूर्वी एशियाई) देशों- म्यांमार और थाइलैंड- के शामिल होने से सदस्य देशों के बीच अंतरक्षेत्रीय सहयोग का विकास हुआ। म्यांमार और थाइलैंड का बिम्सटेक में शामिल होना भारत की 'लुक ईस्ट पॉलिसी' का परिणाम था, जिसे मोदी ने अब 'एक्ट ईस्ट पॉलिसी' का रूप दिया है।

बिम्सटेक से दक्षिण एशिया पर फोकस

जाहिर है दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन यानी सार्क तक तो भारत सिर्फ दक्षिण एशिया में ही क्षेत्रीय सहयोग, व्यापार, आयात-निर्यात आदि कर रहा था, लेकिन बिम्सटेक को बढ़ावा मिलने से पहुंच दक्षिण-पूर्वी एशिया तक हो गई है। भारत

पहले सिर्फ दक्षिण एशिया पर ही फोकस कर रहा था, लेकिन अब उसने अपना विस्तार शुरू कर दिया है। अब भारत ने विकल्प के रूप में बहुपक्षीय संगठनों को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया है, जिसमें सबसे ऊपर है बिम्सटेक।

एडीबी करता है फंडिंग

बंगाल की खाड़ी से जुड़े देशों के संगठन बिम्सटेक के विकास के लिए इस संगठन का डेवलपमेंटल पार्टनर एडीबी (एशियन डेवलपमेंट बैंक) बना। बिम्सटेक देशों के बीच में भौतिक संपर्क, आर्थिक संपर्क और सांस्कृतिक संपर्क इन तीनों को बढ़ाने के लिए एडीबी प्रोत्साहन करता है और फंड देता है।

8 वर्ष में 50 अरब डॉलर बढ़ा व्यापार

इसके लिए त्रिपक्षीय संपर्क मार्ग की व्यवस्था बनाई है, जो भारत, थाइलैंड और म्यांमार के बीच है। वर्ष 2013 में इस समूह का आंतरिक व्यापार 74.63 अरब डॉलर था, जो 2005 में महज 25.16 अरब डॉलर ही था। मुक्त व्यापार समझौते के लागू होने के बाद इस समूह के अंदर व्यापार में 43 से 59 अरब डॉलर तक की बढ़ोतरी हो सकती है, लेकिन इसके लिए हर सदस्य देश को यातायात और अन्य इंफ्रास्ट्रक्चर सुविधाओं में बहुत अधिक बेहतरी करनी होगी।

नईदुनिया

Date: 03-09-18

असहमति की आड़ में अराजकता

संजय गुप्त, (लेखक दैनिक जागरण समूह के सीईओ व प्रधान संपादक हैं)

इस वर्ष के प्रारंभ में महाराष्ट्र के भीमा-कोरेगांव में दलित और मराठा समुदाय के लोगों के बीच हुई हिंसा की जांच करते हुए पुणे पुलिस ने जून माह में जब पांच लोगों को गिरफ्तार किया, तो उनके पास से कुछ ऐसे पत्र मिले, जिनसे गहरी साजिश के संकेत मिले। जब जांच और आगे बढ़ी तो पुणे पुलिस ने विभिन्न् राज्यों से पांच और लोगों को गिरफ्त में लिया। ये मानवाधिकार अथवा सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अपनी पहचान रखते हैं। इन पर शहरों में नक्सलियों के मुखौटों की तरह काम करने, उन्हें वैचारिक समर्थन देने और उनके लिए संसाधन जुटाने का आरोप है। पुणे पुलिस के अनुसार इन पांचों की नक्सलियों के साथ-साथ कश्मीरी अलगाववादियों से भी साठगांठ है और ये हिंसक आंदोलनों को भड़काते रहे हैं। उच्चतम न्यायालय ने इन सभी की गिरफ्तारी यह कहते हुए नजरबंदी में बदल दी कि असहमति लोकतंत्र का सेफ्टी वॉल्व है। नि:संदेह लोकतंत्र में असहमति के लिए स्थान होना चाहिए और अगर विरोध का स्वर घुटेगा तो लोकतंत्र तानाशाही में बदल जाएगा, लेकिन हिंसक आंदोलनों में लिप्त तत्वों को असहमति के अधिकार की आड़ में छिपने का अवसर नहीं दिया जा सकता।

यह एक तथ्य है कि नक्सली समर्थक तत्व असहमति के अधिकार की आड़ में हिंसक गतिविधियों की वकालत करते हैं। अपने देश में आजादी के दो दशक बाद ही माओ से प्रभावित कानू सान्याल, चारू मजूमदार आदि ने पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी इलाके से व्यवस्था के खिलाफ हिंसा के रास्ते पर चलना शुरू किया था। इसी कारण माओवाद को नक्सलवाद

के नाम से भी जाना जाता है। माओवाद या नक्सलवाद की विचारधारा के तहत भोले-भाले ग्रामीणों और खासकर आदिवासियों को यह सिखाया गया कि उन्हें अपने अधिकार राज्य के विरुद्ध हथियार उठाने से ही मिलेंगे। इस तरह नक्सली संगठनों ने धीरे-धीरे अपनी ताकत बढ़ाई और वे देश के उन हिस्सों में खासतौर पर सक्रिय हो गए, जहां खनिज संपदा की प्रचुरता है। उन्होंने सुनियोजित ढंग से इन संसाधनों पर अपना अधिकार जताना और सरकारी तंत्र को लूट-खसोट करने वाला बताना शुरू कर दिया। जब नक्सलियों का आतंक बढ़ा तो केंद्र के साथ-साथ राज्य सरकारों ने उनके खिलाफ कमर कसी। आज स्थिति यह है कि 10 राज्यों के 68 जिलों में मौजूदगी दर्शाने वाले नक्सलियों में से 90 फीसदी 35 जिलों तक सिमटकर रह गए हैं।

नक्सलियों के खिलाफ लड़ाई कितनी जोखिम भरी रही है, यह इससे समझा जा सकता है कि बीते 20 सालों में नक्सली हिंसा में लगभग 12 हजार लोग मारे गए हैं। इनमें तकरीबन 2,700 सुरक्षा बलों के जवान हैं। बीते तीन वर्षों में नक्सली हिंसा में 25 प्रतिशत कमी आई है। इसकी एक वजह नक्सलियों से मिलीभगत रखने वाले दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जीएन साईंबाबा की गिरफ्तारी और सजा भी रही। वैसे नक्सली अभी भी चुनौती बने हुए हैं। वे रह-रहकर बड़ी वारदात कर रहे हैं। मई 2013 में छत्तीसगढ़ के सुकमा में उन्होंने कांग्रेस नेताओं के काफिले पर हमला कर 27 लोगों को मार डाला था। इनमें छत्तीसगढ कांग्रेस के पूर्व अध्यक्ष नंद कुमार पटेल, वरिष्ठ नेता विद्याचरण शुक्ल, महेंद्र कर्मा आदि शामिल थे। बीते दशकों में नक्सली संगठनों ने वंचित समाज को इस तरह बरगलाया कि इस तबके के लोगों ने हथियार उठाने से गुरेज नहीं किया। राज्य के खिलाफ हथियार उठाने को अभिव्यक्ति की आजादी नहीं कहा जा सकता।

इसे तो राष्ट्र-राज्य के विरुद्ध युद्ध ही कहा जाएगा। यही कारण है कि केंद्र में चाहे जो सरकार रही हो, उसने नक्सलियों को आंतरिक सुरक्षा के लिए खतरा ही माना है। संप्रग शासन के समय प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह तो यह बात बार-बार दोहराते थे। इसमें दोराय नहीं कि बौद्धिक तबके के एक समूह को नक्सलियों से न केवल हमदर्दी है, बल्कि वह उनकी मदद भी करता है। उनके इस कुप्रचार को वैचारिक अंधता के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता कि सरकारें शोषितों की आवाज कुचलकर उनके संसाधनों पर कब्जा कर रही हैं। आज अगर भारत में लोकतंत्र है और उसकी मिसाल दुनिया भर में दी जाती है तो इसलिए नहीं कि यहां की सरकारों ने अपने ही लोगों पर जुल्म ढाए हैं। हकीकत यह है कि भारतीय संविधान के तहत जो कानून बने, उनसे कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी संतुष्ट नहीं। उनका असंतोष एक तरह के विद्रोह में तब्दील हो गया है। वे नक्सलियों के समर्थक इसीलिए हैं, क्योंकि नक्सली हथियारों के बल पर सरकारों का विरोध करने के साथ खनिज एवं वन संपदा पर अपना एकमात्र अधिकार समझते हैं। वे न तो लोकतंत्र पर आस्था रखते हैं और न ही भारतीय संविधान पर।

आखिर किसी भी लोकतंत्र में कोई भी सरकार ऐसे खतरनाक तत्वों के प्रति क्यों नरमी बरते? ऐसा करना तो आत्मघात करने जैसा होगा। समझना कठिन है कि पुणे पुलिस की कार्रवाई को असहमति की आवाज दबाने की कोशिश किस आधार पर कहा जा रहा है? ध्यान रहे कि गिरफ्तार पांच लोगों में कुछ उस कांग्रेस के नेतृत्व वाली संप्रग सरकार के समय भी गिरफ्तार किए गए थे, जो आज पुणे पुलिस की कार्रवाई का विरोध कर रही है। आखिर कांग्रेस द्वारा उन लोगों का समर्थन करने का क्या मतलब, जिनके बारे में पुणे पुलिस का दावा है कि वे आठ करोड़ रुपए से मशीनगन, ग्रेनेड, कारतूस आदि खरीदने की सोच रहे थे, ताकि राजीव गांधी हत्याकांड जैसा कारनामा किया जा सके? कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी को याद होना चाहिए कि संप्रग सरकार ने नवंबर 2013 में सुप्रीम कोर्ट में हलफनामा देकर कहा था कि माओवाद का मुखौटा बने कुछ बुद्धिजीवी शहरों में सक्रिय हैं।

इस हलफनामे के अनुसार ऐसे तत्व नक्सलियों की हथियारबंद गुरिल्ला टुकड़ी से भी अधिक खतरनाक हैं। हलफनामा यह भी कहता है कि कैसे ये तथाकथित बुद्धिजीवी मानवाधिकार और असहमति के अधिकार की आड़ लेकर सुरक्षा बलों की कार्रवाई को कमजोर करने के लिए कानूनी प्रक्रिया का सहारा लेते हैं और झूठे प्रचार के जरिए सरकारों और उसकी संस्थाओं को बदनाम करते हैं। नक्सली संगठनों को अपने शहरी साथियों की जरूरत इसलिए है, क्योंकि वे जब बतौर बुद्धिजीवी कोई बात कहते हैं तो वह कहीं न कहीं असर करती है। नक्सलियों के इन मुखौटों को झूठा प्रचार अभियान चलाने में भी आसानी होती है और मानवाधिकारों की आड़ लेने में भी। यह मानने के अच्छे-भले कारण हैं कि नक्सलियों के समर्थक इसलिए अधिक बेचैन हैं, क्योंकि उनसे प्रभावित लोगों का उनसे मोहभंग हो रहा है। 2011-2014 के मुकाबले 2014-2017 की अवधि में आत्मसमर्पण करने वाले नक्सलियों की संख्या में 185 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई। हैरानी नहीं कि नक्सलियों और उनके समर्थकों की बेचैनी के कारण ही वह साजिश रची गई हो, जिसका दावा पुणे पुलिस ने किया है। जल्द ही सुप्रीम कोर्ट में इस दावे की परीक्षा होगी, लेकिन गिरफ्तार किए गए लोगों के पक्ष में जैसी लामबंदी हो रही है, उससे साफ है कि कुछ वामपंथी नेता और बुद्धिजीवी मोदी सरकार को कठघरे में खड़ा करते रहने के सुनियोजित एजेंडे पर चल रहे हैं। अवार्ड वापसी इसी एजेंडे का एक हिस्सा था।

Date: 02-09-18

राष्ट्रीय सहारा

शिक्षा और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया

डा. सतीश कुमार

पिछले चार वर्षो में शिक्षा के क्षेत्र में कई बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। एक नई सोच और ऊर्जा का संचार भी देखने को मिला है। यह अलग बात है कि ‘‘जियो विविद्यालय’ की स्थापना और विवाद ने मीडिया और सोशल मीडिया पर सरकार की किरकिरी भी खूब हुई है। कई विविद्यालयों में नियुक्ति का न हो पाना और चंद कुलपतियों की अकर्मण्यता ने सरकार को कटघरे में खड़ा कर दिया। इसके बावजूद कई ऐसे आयाम जुड़े हैं, जिनकी र्चचा जरूरी है। महज 103 नये केंद्रीय विद्यालय, 62 नवोदय विद्यालय और सात नये आईआईटी ही नहीं खोले गए, बल्कि ‘‘एक भारत श्रेष्ठ भारत’ योजना के जरिए देशकी क्षेत्रीय विषमताओं को समेटने की कोशिश भी की गई है। महिलाओं की शिक्षा में तेजी से बदलाव आया है। 2014 से 2017 के बीच करीब 7 प्रतिशत बालिकाओं की उच्च शिक्षा बढ़ी है। ‘‘बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ’ योजना के तहत उन क्षेत्रों में पहुंचने की कोशिश की गई है, जहां पर बालिकाओं का ड्रॉप आउट रेट बहुत अधिक था।

मोदी सरकार ने शिक्षा की सार्थकता को बहाल करने की भी शुरुआत की है। शिक्षा का उद्देश्य महज रोजगार और विलासिता नहीं है, बल्कि व्यक्तिगत गुणों का सर्वांगीण विकास भी है। खेल और अध्ययन एक दूसरे के विरोधाभासी बनते चले गए। खेल जगत के विशेषज्ञ, जिन्होंने कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, रिचर्ड बेली का मानना है कि खेल सकल घरेलू उत्पाद का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। यूरोपीय देशों में खेल जगत करीब 3.5 प्रतिशत जीडीपी में सहयोग करता है। करीब इतना रोजगार पैदा करता है। बुद्धि को भी विकसित करता है। दशकों पहले विवेकानंद ने भी यही बात कही थी। कहा था कि ''18 वर्ष के बच्चे को खेल और गीता पढ़ने के बीच चुनाव की चुनौती हो तो मैं युवक को यही सलाह दूंगा कि फुटबॉल खेले।' विवेकानंद पुन: कहते हैं कि शारीरिक कमजोरी हमारे देश की एक तिहाई मुसीबतों को जन्म देती है। जब तक युवा वर्ग शारीरिक रूप से मजबूत नहीं होगा, देश मजबूत नहीं होगा। सरकार ने विवेकानंद की सोच को साकार करने के लिए ''खेलो भारत-पढ़ो भारत' योजना की शुरुआत की है, जिसमें सरकारी विद्यालय को प्रति माह 5 से 20 हजार रुपया केवल खेल सामग्री खरीदने के लिए दिया जाएगा।आधुनिक शिक्षा के विस्तार के साथ शारीरिक श्रम को ओछा एवं तुच्छ समझा जाने लगा।

पहले स्कूलों की सफाई का काम बच्चे और अध्यापक मिलकर करते थे। अब यह सब कुछ कहानियों में सिमट गया। कोरिया और जापान में बच्चे स्कूल की सफाई और निगरानी का काम करते हैं। चीन में भी यह व्यवस्था है। हमने शारीरिक श्रम को अपनी प्रतिष्ठा से जोड़ लिया। नतीजा खतरनाक बनता गया। चरित्र और मूल्य टूटते चले गए। गांधी जी 1925 में लिखते हैं कि ''शिक्षा का मूल अर्थ व्यक्ति को हर तरह से स्वावलंबी बनाना है, जो समाज को कुछ दे सके।' विवेकानंद ने भी यही कहा कि ''अगर शिक्षा चरित्र निर्माण नहीं कर पाती, परोपकार और राष्ट्र निर्माण में सहायक नहीं हो पाती, तो ऐसी शिक्षा किस काम की।' सर्वोच्च शिक्षा और परीक्षा में सफल होकर कोई आईएएस अधिकारी आत्महत्या कर लेता है, तो शिक्षा कहां हुई? इस सरकार ने स्वच्छ भारत अभियान को स्कूली पाठय़क्रम में जोड़कर एक बेहतरीन काम किया है। शहरों से गांवों को जोड़ना भी इस प्रयास का हिस्सा है। भूमंडलीकरण की दौड़ में शिक्षा को क्षेत्रीय खूंटे में नहीं बांधा जा सकता लेकिन यह भी इतना ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे यहां पर ''ब्रेन ड्रेन' एक मुसीबत बन गया है।

भारतीय संसाधन विदेशों की ओर जाने लगे। पिछले 7 दशकों में होड़ मची रही कि रोजगार या उच्च शिक्षा के लिए कैसे अमेरिका या यूरोप की दूरी तय की जाए। यह प्रवृत्ति पूरे भारत की है। सरकार ने इस ''ब्रेन ड्रेन' को ''ब्रेन गेन' में बदलने के लिए प्रधानमंत्री फेलोशिप की शुरुआत की है, जिसमें हजार योग्य विद्यार्थियों को फेलोशिप दी जाएगी। फेलोशिप की रकम 80 हजार रुपये प्रति माह तय की गई है। इसका उद्देश्य भारतीय बुद्धि पलायन को रोकना और उस पूंजी का उपयोग राष्ट्र निर्माण में करना। इसके अलावा, सरकार की कई अन्य योजनाएं शिक्षा की शक्ल को बदलने की कोशिश में हैं, लेकिन कई बुनियादी चुनौतियां भी हैं। शिक्षा जगत के बजट में 20 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है, फिर भी रकम बहुत कम है, जो जीडीपी का मात्र 6 प्रतिशत है। पश्चिमी देशों की तुलना में भारत की स्थिति काफी नीचे है। शिक्षा मंत्री के शब्दों में शिक्षा का क्षेत्र किसी भी अन्य मंत्रालय से बड़ा है। इसमें महज 35.35 लाख स्कूल, 26 करोड़ विद्यार्थी और 87 लाख शिक्षक ही नहीं हैं, अगर इसमें माता-पिता, जो अपने बच्चों की शिक्षा के लिए बेचैन होते हैं, को जोड़ दिया जाए तो देश की 60 प्रतिशत आबादी इसमें समा जाती है। पहले 5 और 8 कक्षा का बैरिकेट था, कांग्रेस की सरकार ने तोड़ दिया। मोदी सरकार उसको पुन: बहाल करने जा रही है। सरकार आधुनिकता और भारतीय परंपरा के मिश्रण से भारतीय चरित्र निर्माण की कोशिश में भी जुटी हुई है। अगर नीतियों का अनुपालन सही रहा तो इस देश की शक्ल बदल सकती है।

Date: 02-09-18

अतिवादी कदमों के दोतरफा खतरे

हरिमोहन मिश्र

विधि आयोग ने अपनी हालिया सिफारिश में हमारे लोकतंत्र में विरोध की अहमियत पर नए सिरे से बल दिया है। संभव है, उसे देश में मौजूदा वक्त में जारी गतिविधियों और बहस के चिंताजनक पहलुओं का एहसास हो। जाहिर है, विधि आयोग की यह राय बहस को संतुलित बनाने में काम आएगी और देश के लोगों को नई राह दिखाएगी। यह राय शायद अदालतों के लिए भी हालिया मामलों में मददगार हो सकती है और सरकार तंत्र को भी पुनर्विचार पर मजबूर कर सकती है। न्यायमूर्ति (रिटायर) बलबीर सिंह चौहान की अध्यक्षता में विधि आयोग ने राजद्रोह कानून (भारतीय दंड संहिता की धारा 124ए) के संबंध में कहा,"लोकतंत्र में एक ही धारा का राग अलापना देशभक्ति का मानक नहीं होना चाहिए। लोगों को देश के प्रति अपने तरीके से आस्था जाहिर करने की छूट होनी चाहिए। ऐसा करते कोई भी सरकार की नीतियों की खामियों और नाकामियों की सकारात्मक आलोचना कर सकता है। यह आलोचना तल्ख और कुछ के लिए अप्रिय हो सकती है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उसे राजद्रोह की श्रेणी में डाला जाना चाहिए।धारा 124ए के तहत राजद्रोह के कड़े प्रावधानों का प्रयोग वहीं होना चाहिए जहां नीयत सार्वजनिक व्यवस्था को बिगाड़ने या सरकार को अवैध या हिंसक तरीके से हटाने की हो।' इसके साथ आयोग ने यह भी स्पष्ट किया है कि विरोध की अहमियत को अगर हम कमजोर करेंगे तो लोकतंत्र खतरे में पड़ जाएगा।

यह पहली बार नहीं है कि विधि आयोग ने ऐसी राय जाहिर की है। इसके पहले भी कई आयोग इस संबंध में बेहद संजीदा ढंग से कार्रवाई करने की सलाह दे चुके हैं। देश में यह बहस भी आजादी के कुछ समय बाद ही तीखे ढंग से शुरू हो गई थी। असल में कई कानूनों की तरह यह भी हमारी औपनिवेशिक विरासत का हिस्सा है। अंग्रेजों ने अपने प्रति विरोध के दमन का इन्हें हथियार बनाया था। संविधान सभा में भी इस पर बहस हुई थी। इसी के साथ अवमानना और मानहानि संबंधी कानूनों पर भी बहस हुई थी। अवमानना और मानहानि के मामलों से फौजदारी की धाराओं को अलग करने की दलीलें भी बेहद पुरानी हैं। असल में ये दोनों ही कानूनी प्रावधान अभिव्यक्ति की आजादी पर कुछ अंकुश जड़ देते हैं, जिसे लोकतंत्र की आत्मा कहा जाता है। हालांकि संविधान सभा में कुछ शतरे के साथ इन प्रावधानों को रहने दिया गया था। लेकिन साठ-सत्तर के दशक में ही सुप्रीम कोर्ट अपने कई फैसलों में इन दोनों प्रावधानों को बेहद असाधारण मामलों में ही लागू करने की हिदायत दे चुका है। उसके बाद भी कई फैसले इस मामले में नजीर है।

लेकिन मौजूदा दौर में जिस तरह इन प्रावधानों का इस्तेमाल आम हो गया है, वह वाकई चिंता का विषय है। हाल में कई वकीलों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं को कथित तौर पर माओवादियों के साथ सांठगांठ के मामले में गिरफ्तार किया तो कई जाने-माने बुद्धिजीवियों की सख्त प्रतिक्रिया भी यही जाहिर करती है कि सिर्फ चिट्ठियों, ई-मेल या लेखों के आधार पर यह कार्रवाई नहीं होनी चाहिए। हालांकि पुलिस की दलील है कि उसके पास हिंसक गतिविधियों में मदद करने के साक्ष्य मौजूद हैं। मुंबई पुलिस ने प्रेस कॉन्फ्रेंस करके कुछ साक्ष्यों को सार्वजनिक करने की कोशिश भी की। मगर, खासकर जानी-मानी मानवाधिकार वकील सुधा भारद्वाज का खंडन भी आ गया कि उनके ई-मेल वगैरह के साथ छेड़छाड़ की गई

है और जिनसे उनके संवाद बताए जा रहे हैं, उन्हें वे जानती तक नहीं। खैर! इस खंडन-मंडन के बावजूद यह तो कहा ही जा सकता है कि ऐसे आरोप मढ़ने के पहले पूरी सावधानी बरती जानी चाहिए। बहरहाल, मामला सर्वोच्च अदालत में है, इसलिए इस बहस में उतरने से पहले इंतजार करना ही बेहतर है।बड़ा सवाल देश के बड़े बुद्धिजीवियों की वह चिंता है कि हमारे राज्य का ढांचा पुलिस तंत्र में बदलता जा रहा है। इतिहासकार रामचंद्र गुहा तो यहां तक कह गए कि ''आज अगर महात्मा होते तो वे फौरन अपना वकील का जामा पहनकर बचाव में खड़े हो गए होते।'

यह भी गौर करने लायक है कि सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर करने वालों में इतिहासकार रोमिला थापर और समाजशास्त्री सतीश देशपांडे सरीखी शख्सियतें हैं। ये बुद्धिजीवी ऐसे हैं, जो किसी चीज को बिना जांचे-परखे कोई रवैया नहीं बनाते क्योंकि उनका अकादमिक अनुशासन इसकी इजाजत नहीं देता। इसलिए हमेशा ऐसे लोगों की राय संजीदा ढंग से लेनी चाहिए वरना हम देश में तर्कसंगत सोच-समझ से च्युत हो जाएंगे।बुद्धिजीवियों का मान-सम्मान बेहद जरूरी है और उनके कदम अगर विरोध में भी उठे हों तो उस पर शांत होकर विचार करने की दरकार होती है। यहां एक घटना का जिक्र करना गैर-मुनासिब नहीं होगा। सत्तर के दशक में यूरोप और खासकर फ्रांस में ऐतिहासिक छात्र आंदोलन हुआ, जिसकी आंच पूरी दुनिया में महसूस की गई। तब फ्रांस के राष्ट्रपति डी''गाल की दुनिया भर में तूती बोलती थी। कहते हैं डी''गाल ने पुलिस के आला अधिकारियों की बैठक बुलाई कि बेकाबू छात्र आंदोलन से कैसे निपटा जाए। अधिकारियों ने उन्हें बताया कि दुनिया भर में मशहूर बुद्धिजीवी ज्यां पाल सार्त् छात्र को भड़का ही नहीं रहे हैं बल्कि वे प्रदर्शनों और पोस्टर वगैरह चिपकाने के दौरान भी मौजूद रहते हैं। अधिकारियों की सलाह थी कि सार्त् को गिरफ्तार कर लिया जाए तो आंदोलन पर काबू पाया जा सकता है।

इस पर डी''गाल बिफर पड़े। उन्होंने कहा, सार्त् को गिरफ्तार करने का मतलब है कि फ्रांस को सीखचों में जकड़ देना, फ्रांस को गिरफ्तार करने का हमारे पास अधिकार कहां है। फिर सार्त् भी तो फ्रांस है। उसका नागरिक है। तो, जाहिर है, बुद्धिजीवियों की राय को अनसुना करना और बड़े संकट की ओर ले जा सकता है।लेकिन हमारे देश में ही राज्य सत्ता इसके उलट एकाधिक बार रु ख दिखा चुकी है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण इमरजेंसी का वह दौर है, जब विपक्षी नेताओं के साथ कई बुद्धिजीवियों को भी जेल में डाल दिया गया था। हाल ही में महान पत्रकार और संपादक कुलदीप नायर का निधन हुआ। उन्हें भी जेल में डाल दिया गया था। लेकिन इमरजेंसी का खमियाजा इंदिरा गांधी सरकार को भुगतना पड़ा था। दरअसल, बुद्धिजीवियों पर जब आप डंडा चलाते हैं या उनकी बात की अनदेखी करते हैं तो कहीं न कहीं आप राष्ट्र की मूल भावना पर भी चोट कर रहे होते हैं। और देश के लोग इस मूल भावना पर चोट कतई बर्दाश्त नहीं करते।बहरहाल, उस मूल बहस पर लौटते हैं कि राजद्रोह जैसे कानून पर कैसे बेहद संजीदा होकर कार्रवाई करने की दरकार है।

और यह संजीदगी कोई अव्याख्यायित नहीं है। इसमें तल्ख और तीखे विरोध या सिर्फ सोचने या बात करने भर से आरोप नहीं बन जाता है, न कुछ आपत्तिजनक साहित्य पकड़ा जाना कोई साक्ष्य बन सकता है। अगर वाकई हिंसक कार्रवाई में लिप्त रहने या वैसी ही कोई साजिश का हिस्सा होने का वास्तविक प्रमाण मिलता है, तब अलग बात हो सकती है। हमें भी और पूरे सरकार तंत्र के साथ-साथ निचली अदालतों को भी यह ध्यान में रखना चाहिए, जो सुप्रीम कोर्ट ने हाल ही में कहा। रोमिला थापर वगैरह की याचिका पर विचार करते हुए प्रधान न्यायाधीश की अगुआई वाली पीठ ने कहा कि विरोध या असहमति को रोकेंगे तो प्रेशर कूकर फट जा सकता है। इसी संदर्भ में विधि आयोग की मौजूदा राय भी खास अहमियत रखती है। इसलिए विरोध की अहमियत को कम करके मत आंकिए। ऐसा करके हम अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी

चला रहे होंगे। ऐसी ही भावनाओं का इजहार पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी और भाजपा के वरिष्ठ नेता लालकृष्णस आडवाणी भी कई बार कर चुके हैं।

जनसत्ता

Date: 02-09-18

राजनीति का अपराधीकरण

रीता सिंह

राजनेताओं, सांसदों और विधायकों के खिलाफ देश के विभिन्न न्यायालयों में लंबित आपराधिक मामलों का ब्योरा केंद्र सरकार द्वारा न दिए जाने को लेकर सर्वोच्च न्यायालय ने नाराजगी जताई है। न्यायालय ने एक जनहित याचिका की सुनवाई करते हुए इस पर सख्त टिप्पणी की, जिसमें दोषी सांसदों और विधायकों पर आजीवन प्रतिबंध लगाने की मांग की गई है। याचिका में आपराधिक मामलों में आरोपित सांसदों-विधायकों के मामलों की सुनवाई के लिए अलग से विशेष न्यायालयों के गठन की भी मांग की गई है। सर्वोच्च न्यायालय ने इसी याचिका की सुनवाई करते हुए राजनीति के अपराधीकरण पर केंद्र सरकार से पूछा था कि क्यों न आपराधिक मामलों के आरोपियों को चुनाव का टिकट देने वाले राजनीतिक दलों का पंजीकरण रद्द कर दिया जाए? न्यायालय ने यह भी जानना चाहा था कि क्या चुनाव आयोग को ऐसा करने का निर्देश दिया जा सकता है?

इस याचिका में कहा गया है कि वर्ष 2014 में चौंतीस प्रतिशत से अधिक सांसद और विधायक दागी थे, इस कारण विधायिका चुप है। पिछले साल सर्वोच्च न्यायालय ने केंद्र सरकार को ताकीद किया था कि वह 2014 में नामांकन भरते समय आपराधिक मुकदमा लंबित होने की घोषणा करने वाले विधायकों और सांसदों के मुकदमों की स्थिति बताए। इनमें से कितनों के मुकदमें सर्वोच्च न्यायालय के 10 मार्च, 2014 के आदेश के मुताबिक एक वर्ष के भीतर निपटाए गए और कितने मामलों में सजा हुई और कितने बरी हुए। 2014 से 2017 के बीच कितने वर्तमान और पूर्व विधायकों और सांसदों के खिलाफ आपराधिक मामले दर्ज हुए। जवाब में केंद्र सरकार द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में कुल अठाईस राज्यों का ब्योरा दिया गया है, जिसमें उत्तर प्रदेश के सांसदों-विधायकों के खिलाफ सबसे ज्यादा मुकदमे लंबित हैं। 2014 में कुल 1581 सांसदों और विधायकों के खिलाफ आपराधिक मामले लंबित थे। इसमें लोकसभा के 184 और राज्यसभा के 44 सांसद शामिल थे। इनमें महाराष्ट्र के 160, उत्तर प्रदेश के 143, बिहार के 141 और पश्चिम बंगाल के 107 विधायकों पर मुकदमे लंबित थे।

सभी राज्यों के आंकड़े जोड़ने के बाद कुल संख्या 1581 थी। यहां ध्यान देना होगा कि चुनाव-दर-चुनाव दागी जनप्रतिनिधियों की संख्या कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही है। मसलन, 2009 के आम चुनाव में तीस प्रतिशत प्रत्याशियों ने अपने खिलाफ आपराधिक मामलों की घोषणा की थी। आम चुनाव 2014 के आंकड़ों पर गौर करें तो 2009 के मुकाबले इस बार दागियों की संख्या बढ़ गई। दूसरी ओर ऐसे जनप्रतिनिधियों की भी संख्या बढ़ी है, जिन पर हत्या, हत्या के प्रयास और अपहरण जैसे गंभीर आपराधिक मामले लंबित हैं। 2009 के आम चुनाव में ऐसे सदस्यों की संख्या तकरीबन 77 यानी पंद्रह प्रतिशत थी जो अब बढ़ कर इक्कीस प्रतिशत हो गई है। कुछ अरसा पहले सर्वोच्च न्यायालय ने दागी नेताओं पर लगाम कसने के उद्देश्य से प्रधानमंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्रियों से कहा था कि आपराधिक पृष्ठभूमि

वाले दागी लोगों को मंत्री पद न दिया जाए, क्योंकि इससे लोकतंत्र को क्षति पहुंचती है। पर विडंबना है कि न्यायालय की इस नसीहत का पालन नहीं हो रहा है। ऐसा इसलिए कि सर्वोच्च न्यायालय ने दागी सांसदों और विधायकों को मंत्री पद के अयोग्य मानने में हस्तक्षेप के बजाय इसकी नैतिक जिम्मेदारी प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों के विवेक पर छोड़ दी है। दरअसल, प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों को अपना मंत्रिमंडल चुनने का हक संवैधानिक है और उन्हें इस मामले में कोई आदेश नहीं दिया जा सकता। जब कानून में गंभीर अपराधों या भ्रष्टाचार में अभियोग तय होने पर किसी को चुनाव लड़ने के अयोग्य नहीं माना गया है, तो फिर मंत्रिमंडल गठन के मामले में उन्हें अयोग्यता कैसे ठहराया जा सकता।

वैसे भी उचित है कि व्यवस्थापिका में न्यायपालिका का अनावश्यक दखल न हो। लेकिन इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि कार्यपालिका दागी जनप्रतिनिधियों को लेकर अपनी आंखें बंद किए रहे और न्यायपालिका तमाशा देखे। कुछ अरसा पहले जब सर्वोच्च न्यायालय ने जनप्रतिनिधित्व कानून में संशोधन के जरिए दोषी सांसदों और विधायकों की सदस्यता समाप्त करने और जेल से चुनाव लड़ने पर रोक लगाई, तो राजनीतिक दलों ने वितंडा खड़ा किया। उस समय सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की गई थी, जिसमें कैबिनेट से आपराधिक पृष्ठभूमि वाले मंत्रियों को हटाने की मांग की गई थी। शुरू में न्यायालय ने इस याचिका को खारिज कर दिया, लेकिन याचिकाकर्ता द्वारा पुनर्विचार याचिका दायर किए जाने पर 2006 में इस मामले को संविधान पीठ के हवाले कर दिया। इससे पहले भी सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक फैसले में राजनीतिकों और अतिविशिष्ट लोगों के खिलाफ लंबित मुकदमे एक साल के भीतर निपटाने का आदेश दिया था। दूसरे फैसले में उसने कानून के उस प्रावधान को निरस्त कर दिया था, जो दोषी ठहराए गए जनप्रतिनिधियों को अपील लंबित रहने के दौरान विधायिका का सदस्य बनाए रखता है।

अब चूंकि केंद्र सरकार ने दागी जनप्रतिनिधियों के मामले की सुनवाई के लिए विशेष न्यायालय के गठन को हरी झंडी दिखा दी है, राजनीति के शुद्धीकरण की उम्मीद बढ़ गई है। अगर दोषी नेताओं पर कानून का शिकंजा कसता है तो राजनीतिक दल ऐसे लोगों को चुनावी मैदान में उतारने से परहेज करेंगे। अकसर राजनीतिक दल सार्वजनिक मंचों से कहते हैं कि राजनीति का अपराधीकरण लोकतंत्र के लिए घातक है। वे इसके खिलाफ कड़े कानून बनाने और चुनाव में दागियों को टिकट न देने की भी हामी भरते हैं। लेकिन जब उम्मीदवार घोषित करने का मौका आता है तो दागी ही उनकी पहली पसंद बनते हैं। दरअसल, राजनीतिक दलों को विश्वास हो गया है कि जो जितना बड़ा दागी है उसके चुनाव जीतने की उतनी ही बड़ी गारंटी है। पिछले कुछ दशक से इस प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है। हैरान करने वाली बात यह कि दागी चुनाव जीतने में सफल भी हो रहे हैं। पर इसके लिए सिर्फ राजनीतिक दलों और उनके नियंताओं को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। जनता भी बराबर की कसूरवार है। जब देश की जनता ही साफ-सुथरे प्रतिनिधियों को चुनने के बजाय जाति-पांति और मजहब के आधार पर बाहुबलियों और दागियों को चुनेगी तो स्वाभाविक रूप से राजनीतिक दल उन्हें टिकट देंगे।

नागरिक और मतदाता होने के नाते जनता की भी जिम्मेदारी बनती है कि वह ईमानदार, चरित्रवान, विवेकशील और कर्मठ उम्मीदवार को अपना प्रतिनिधि चुने। यह तर्क सही नहीं कि कोई दल साफ-सुथरे लोगों को उम्मीदवार नहीं बना रहा है इसलिए दागियों को चुनना उनकी मजबूरी है। यह एक खतरनाक सोच है। देश की जनता को समझना होगा कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में नेताओं के आचरण का बदलते रहना एक स्वाभावगत प्रक्रिया है। लेकिन उन पर निगरानी रखना और यह देखना कि बदलाव के दौरान नेतृत्व के आवश्यक और स्वाभाविक गुणों की क्षति न होने पाए, यह जनता की जिम्मेदारी है। देश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक तरक्की के लिए जितनी सत्यनिष्ठा और

समर्पण राजनेताओं की होनी चाहिए उतनी ही जनता की भी। दागियों को राजनीति से बाहर खदेड़ने की जिम्मेदारी राजनीतिक दलों के कंधे पर डालकर निश्चिंत नहीं हुआ जा सकता।